जावेद अख़्तर

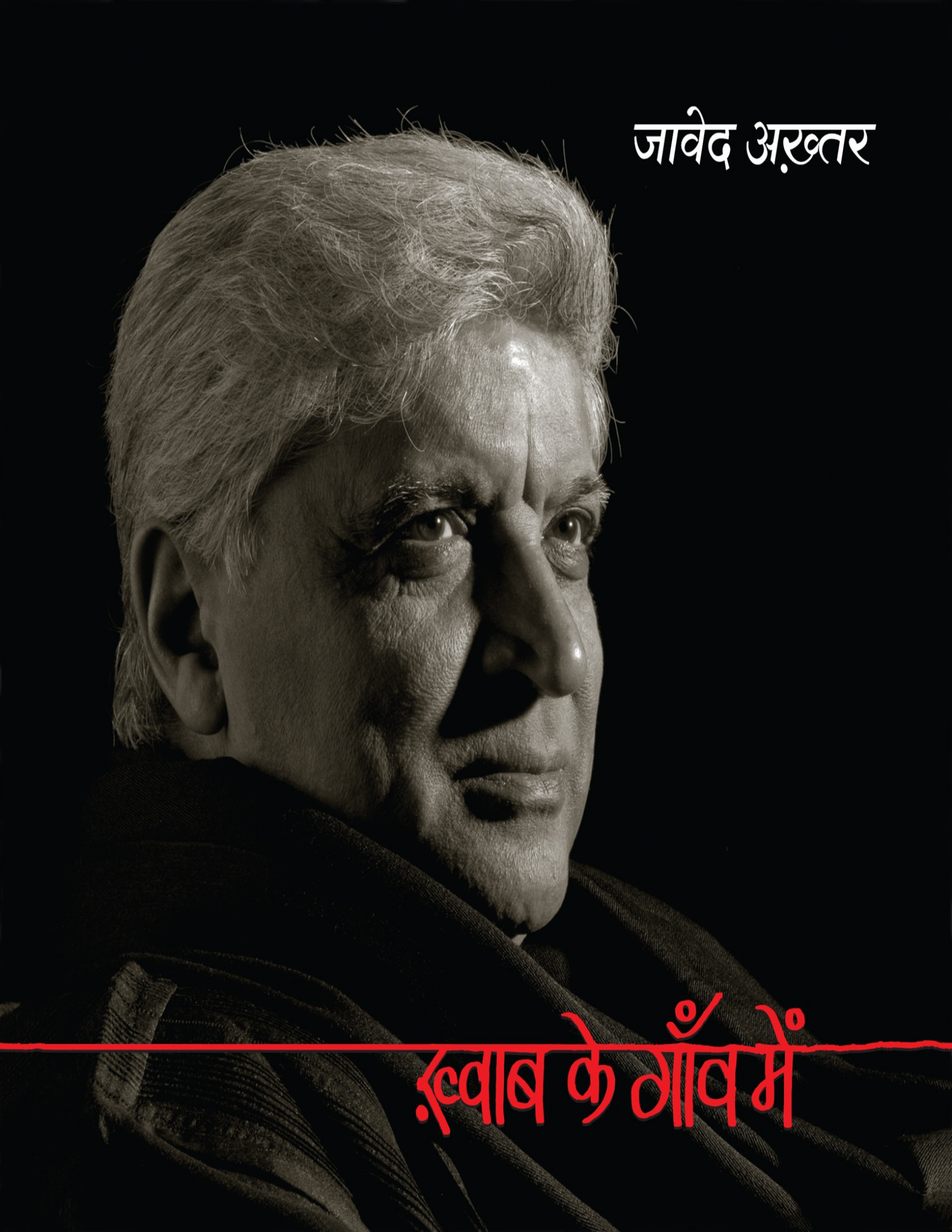

ख़्वाब के गाँव में

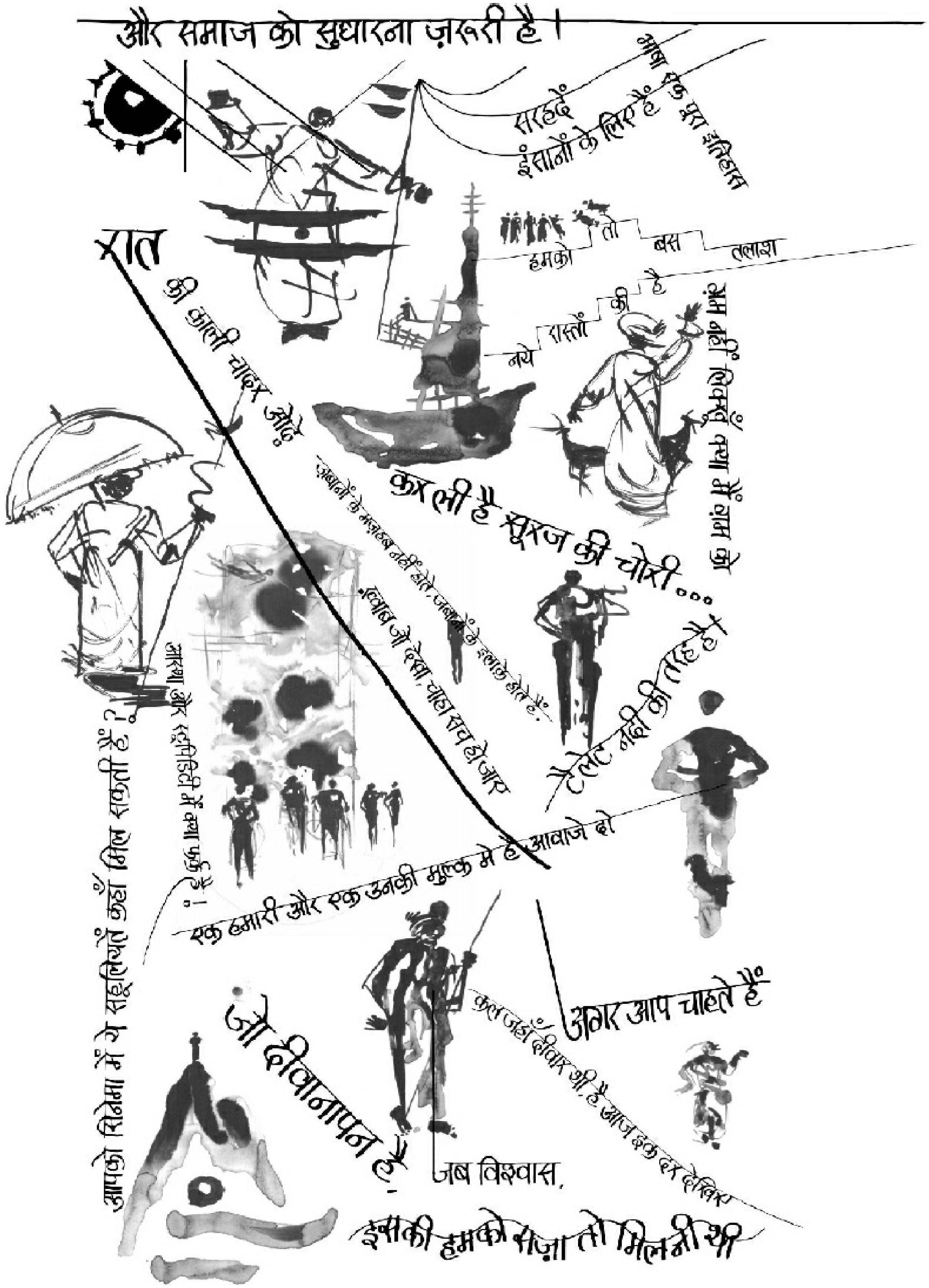
और समाज को सुधारना ज़रूरी है।
सरहदें इंसानों के लिए हैं
एक पूरा इतिहास
हमको तो बस तलाश है नये रास्तों की
अब नहीं लिखूँ क्या मैं ग़म को
रात की काली चादर ओढ़े
कर ली है सूरज की चोरी...
ज़बानों के मज़हब नहीं होते, ज़बानों के इलाके होते हैं।
ख़्वाब जो देखा, चाहा सच हो जाए
टैलेंट नदी की तरह है।
आस्था और स्टुपिडिटी में क्या फ़र्क़ है!
आपको सिनेमा में ये सहूलियतें कहाँ मिल सकती हैं?
एक हमारी और एक उनकी मुल्क में है आवाज़ें दो
अगर आप चाहते हैं
जो दीवानापन है
कल जहां दीवार थी है आज इक दर देखिए
जब विश्वास,
इसकी हमको सज़ा तो मिलनी थी

ख़्वाब के गाँव में

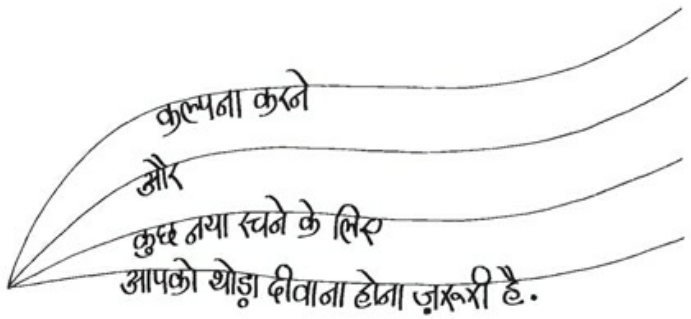

।इसी पुस्तक से।

ख़्वाब के गाँव में

मंजुल पब्लिशिंग हाउस
7/32, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
ख़्वाब के गाँव में
कॉपीराइट © अरविंद मण्डलोई (रूपांकन), 2017

प्रथम संस्करण: 2017
मंजुल पब्लिशिंग हाउस द्वारा

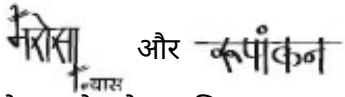

के सहयोग से प्रकाशित

परिकल्पना: अरविंद मण्डलोई
रेखांकन: मुकेश बिजौले
कैलिग्राफ़ी: अशोक दुबे
ग्राफ़िक्स: पवन वर्मा

ISBN 978-81-8322-741-4

इस पुस्तक से प्राप्त आय का उपयोग हाशिये पर जीवन जी रहे ऐसे बच्चों के लिए जो स्कूल नहीं जा पाते, अनौपचारिक शिक्षण केन्द्रों और सार्वजनिक नि:शुल्क वाचनालय के संचालन में होगा।

इस पुस्तक के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। लेखक एवं प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना इसे या इसके किसी भी हिस्से को न तो पुन: प्रकाशित किया जा सकता है और न ही किसी भी अन्य तरीक़े से, किसी भी रूप में इसका व्यावसायिक उपयोग किया जा सकता है।

विषय-सूची

भूमिका
ख़्वाब के गाँव में

भूमिका

जावेद अख्तर के पुरखे और ख़ानदान के लोग पीढ़ियों से दानिशमंद और अदीब रहे हैं। फ़ज्ले-हक़, मुज्तर ख़ैराबादी, जाँ निसार अख्तर, सफ़िया, मजाज़, कैफ़ी आज़मी, शौकत, शबाना। ये नामों की वो फ़ेहरिस्त है जो जावेद अख्तर के नाम के साथ सहज ही हमें याद आती है।

जावेद अख्तर से मेरा जो संपर्क पिछले कुछ सालों से है, उसे मैं अपनी ख़ुशनसीबी और फ़क्र दोनों का विषय मानता हूँ। उनके साथ गुज़ारे लम्बे वक्त के दौरान और बातचीत के सिलसिलों में मैंने उन्हें काफ़ी कुछ जाना, देखा, पढ़ा और समझा। उनसे हर मुलाक़ात के बाद मैंने ज़िंदगी को और लोगों को उनके नज़रिये से देखने और समझने की कोशिश की और पाया कि जावेद ज़िंदगी के दिन-रात की आपाधापी, अच्छे-बुरे, सुख-दु:ख, ख़ुशी और ग़म को फ़िल्म के सीन की तरह दर्शक के नज़रिये से देखते हैं। वे तमाम हालात जो ज़िंदगी को चाहे ख़ुशनुमा बनाते हों या फ़िक्रमंद और परेशान करते हों, उनको वो मुक्त भाव से जीते हैं और उनकी शख़्सियत का यह कोण उन्हें दार्शनिकों की पंक्ति में खड़ा कर देता है। जन्म लेते ही उनकी ज़िंदगी का रुख तय सा हो गया था, जब रिवाज़ के मुताबिक़ उनके कान में अज़ान नहीं, बल्कि कम्युनिस्ट पार्टी का मेनिफ़ेस्टो पढ़ा गया।

माँ के गुज़रने के बाद घर के सामान के बँटवारे की तकलीफ़ों और कड़वाहटों के गवाह, नौ साल की उम्र के जावेद आगे भी ज़िंदगी की दी हुई दुश्वारियों से होकर गुज़रते रहे। पर उन कड़वाहटों के परे जावेद ने बुरे और अच्छे वक्त को कुछ इस तरह पार किया कि उनकी शख़्सियत के किसी भी कोने में वह कोई जगह नहीं बना पाया और लौटाते समय उन्होंने दुनिया को बेहतर ही लौटाने की कोशिशें कीं। जावेद अख्तर अपने आपको कुछ यूँ ढालते हैं, सँवारते हैं कि हमें एहसास ही नहीं होता कि यह आदमी अनगिनत ज़ख्मों की यादें लिए

चल रहा है।

मानव मनोविज्ञान का एक नियम है कि उत्तेजना, जल्दबाज़ी, शोर शराबा, ये सब बुरे हालात में लालन-पालन का नतीजा होती हैं। लेकिन जावेद अख़्तर ने अपनी शख़्सियत को कुछ यूँ सँवारा है कि मनोविज्ञान का यह नियम उलट हो गया है।

संघर्ष के दिनों में कमाल स्टूडियो (जिसका नाम अब नटराज स्टूडियो है) में रहते हुए मीना कुमारी के फ़िल्म फ़ेयर अवॉर्ड को हाथ में लेकर शीशे के सामने खड़े होना और यह सोचना कि जब यह अवॉर्ड मुझे मिलेगा तो तालियों से गूँजते हुए हॉल में बैठे लोगों को देखकर मैं किस तरह मुस्कराऊँगा और कैसे हाथ उठाऊँगा — खुली आँख से देखे गये इस ख़्वाब को जावेद अख़्तर ने अपने फ़िल्मी और अदबी लेखन के क्षेत्र में निरंतर सक्रियताओं के बल पर सच कर दिखाया। ज़िंदगी के इस मुकाम तक वे ढेरों पुरस्कारों व सम्मानों से नवाज़े गये हैं और जब भारत सरकार से मनोनीत हो वे राज्यसभा में गये तो वहाँ भी कॉपी राइट एक्ट को लागू करने की लड़ाई में और ज्यादा सक्रिय नज़र आये। इस एक्ट के लागू होने के मायने हैं कि फ़िल्मों के लेखक, गीतकार, शायरों को न सिर्फ़ उनके जीवनकाल में बल्कि उनकी मृत्यु के 60 वर्ष बाद तक उनके परिजनों को रॉयल्टी की राशि मिलती रहेगी और ये उनके जीवन के लिए एक बड़ी आर्थिक सुरक्षा होगी। नि:संदेह देश की कलाकार बिरादरी के आर्थिक हितों की रक्षा करता यह एक महत्त्वपूर्ण कानून सिद्ध होगा। एक अकेला आदमी सोच तो बहुत कुछ सकता है पर अपनी उस सोच को अमली जामा पहनाना इन हालात में बिलकुल आसान नहीं है, जब लोग अपने घर के आसपास पड़ी गंदगी को उठाने के लिये महीनों तक सरकार से गुहार लगाते रहते हैं।

ऐसे समय में जहाँ रिश्ते और संबंध स्वयं संदिग्ध हो गये हों, जावेद अख़्तर ने अपने जीवन में रिश्तों के लिए जो कुछ किया वह दुर्लभ है। वे अपने दोस्तों के बहुत अहसानमंद हैं। दुनिया भर में उनके दोस्त हैं। उनके जैसी शख़्सियत और कद के दुनिया में चंद ही लोग होंगे और उनके दोस्तों की तादाद के बारे में उन्होंने ख़ुद लिखा है कि टेलीफ़ोन की डायरेक्टी भी कम पड़ सकती है। मैंने जाना कि वे दोस्ती पर नाज़ करने वाले शख़्स हैं। उसे निभाने वाले शख़्स हैं। कई सालों पहले गर्दिश के दिनों में कुछ रुपयों के साथ एक दोस्त का दिया हुआ कड़ा आज भी उनकी कलाई में सलामत है।

सलीम-जावेद की जोड़ी को मिली बुलन्दी इतिहास में दर्ज है। पर अलग होने पर भी सलीम साहब के लिए जावेद साहब के बयान आज तक सदा यही रहे कि मुझे क़ामयाब बनाने में उनका बड़ा अहम योगदान है। संबंधों को निभाने की यह एक मिसाल है। फ़िल्म जगत के कई चमकते सितारों को बुलंदी तक पहुँचाने में जावेद साहब दिल से मदद करते आए हैं, पर इन बातों का ज़िक्र वे कभी नहीं करते। यह उनका बड़प्पन है। एक और पहलू देखिये कि यश चोपड़ा की सलीम-जावेद द्वारा लिखी फ़िल्म 'काला पत्थर' वैसी नहीं चली, जैसी

चलनी चाहिये थी और फ़रहान अख्तर की 'लक्ष्य' जिसके स्क्रिप्ट राइटर जावेद अख्तर थे, भी वैसा प्रदर्शन नहीं कर पाई जैसा उसे करना चाहिये था। लेकिन एक इन्टरव्यू के दौरान जावेद साहब का जवाब देखिये कि "यशजी का डायरेक्शन, फ़रहान अख्तर का डायरेक्शन तो बहुत अच्छा था, मगर मेरे काम में ही कमी रही होगी, वही ठीक से नहीं हुआ होगा इसलिए फ़िल्म नहीं चली"। सार्वजनिक रूप से नाक़ामयाबी में अपना हिस्सा मानना और उसे स्वीकार कर लेना आसान बात नहीं है।

अपनी बुलंदी के इस मुकाम पर जब गाड़ी में जावेद अख्तर सफ़र करते हैं तो फ़ुटपाथ पर चीज़ें बेचते और भीख मांगते बच्चों को देखकर वे कहते हैं कि इन बच्चों में इतनी प्रतिभा छिपी है कि पता नहीं, कल ये दुनिया के लिए क्या-क्या कर सकते हैं। बेहतर यही है कि इनके हालात बदल दिये जायें और उन्हें सही मौक़े दिये जायें। ये संवेदनाओं और भावनाओं से भरे व्यक्ति का दर्द है।

घंटों तक दूसरों की शायरी सुनाते जावेद अख्तर। इंसानियत की तरफ़दारी में अपनी आवाज़ पूरी मज़बूती से उठाते जावेद अख्तर। 'शोले' से लेकर 'दोराहा', 'अजीब आदमी था' और 'शतरंज' जैसी ढेरों रचनाओं के क़लमकार जावेद अख्तर। साम्प्रदायिक और फ़ासिस्ट ताकतों के ख़िलाफ़ जावेद अख्तर। 'इक सूरज नया बनाएँ' के बुलंद तेवरों के साथ 'राइटर' और 'फ़ाइटर' जावेद अख्तर फिलहाल अपने पूरे सब्र, अपनी पूरी शिद्दत के साथ मुल्क के गीतकारों और संगीतकारों की रॉयल्टी के लिए लड़ाई लड़ रहे हैं।

उनकी उम्र का हिसाब लगाया जाये तो यह कहना और लिखना बेहतर होगा कि जावेद साहब ने अपनी तमाम उम्र सैकड़ों साल की ज़िंदगी को जिया, देखा, समझा और महसूस किया है। मेरे बचपन के दिनों का एक वाकया मुझे याद है कि हमारे मकान मालिक अक्सर अपने टेप रिकॉर्डर पर, जो उन दिनों रईसों के घर की वस्तु हुआ करती थी, फिल्म 'शोले' के डायलॉग की कैसेट बजाया करते थे और मैं ख़ामोशी के साथ दरवाज़े के किनारे खड़ा होकर डायलॉग सुना करता था। लगातार पीढ़ियों के साथ सफ़र करते हुए जावेद साहब आज भी अपने बहुआयामी व्यक्तित्व के साथ हमें फ़िल्मों के संवाद लिखते दिखाई देते हैं, फ़िल्मों के गीत लिखते दिखाई देते हैं, उर्दू कविता लिखते दिखाई देते हैं, मुशायरे पढ़ते दिखाई देते हैं, देश-विदेश में व्याख्यान देते दिखाई देते हैं, तमाम घटनाओं पर अपनी अभिव्यक्तियाँ देते दिखाई देते हैं, मुल्क के कलाकारों के हित की लड़ाई लड़ते दिखाई देते हैं और साम्प्रदायिक सद्भाव जद्दोजहद के साथ कई मुद्दों पर चिंतित और संघर्षरत दिखाई देते हैं।

जावेद अख्तर जैसी विराट शख़्सियत पर इस क़िताब की भूमिका लिखने की मैंने कोशिश की है। मैं अपने आप को इस काबिल नहीं मानता, लेकिन सिर्फ़ उनसे मेरी करीबियाँ यह काम मुझसे करवा रही है। इन करीबियों से मैंने पाया कि उनकी और मेरी ज़िंदगी के हालात कहीं-कहीं हमशक्ल रहे हैं, इसलिए उनको मैं अपने ज्यादा करीब पाता हूँ। इस क़िताब में

उनकी ही कही और लिखी बातों को लिया गया है। मैंने हिन्दी कैलिग्राफ़ी में लिखी पहली क़िताब एम.एफ.हुसैन की आत्मकथा देखी थी, मेरी जानकारी के मुताबिक़ यह क़िताब इस तरह की दूसरी होगी। इस पुस्तक की शुरुआती कल्पना से लेकर अपने अंजाम तक पहुँचाने में रूपांकन संस्था के अशोक दुबे की केन्द्रीय भूमिका रही है। ज़िंदगी में अच्छे हालात बने, वक्ंत बदला, कोशिशें कामयाब हुईं या यह क़िताब बन पाई, सभी मसलों पर शरद डोसी और प्रवीण अग्रवाल (आलू) का दिली सहयोग मुझे हासिल रहा, मैं शुक्रगुज़ार हूँ।

इस संस्करण को जिस गर्मजोशी के साथ मंजुल प्रकाशन ने आवाम तक पहुँचाने की ज़िम्मेदारी उठायी है, उसके लिए श्री विकास रखेजा का विशेष आभार।

— अरविंद मण्डलोई

कुछ ज़रूरी बातों का खुलासा
मैं शुरुआत में ही करना चाहूँगा
और इसमें राज़ भी नहीं है कि-

मैं नास्तिक हूँ
मेरा नाम जावेद अख़्तर है
मेरा कोई मज़हबी यक़ीन नहीं है
आध्यात्मिकता पर भी मेरा विश्वास नहीं है.

ये शोहरत आख़िर क्या है ?

अगर हम यह मानें कि शोहरत
हमारे किए कामों की परछाई है
तो हम ज़रा-सा काम करके
यह आशा तो नहीं कर सकते कि
परछाई बड़ी बने.

अगर आप बड़ी मूर्ति या आकार बनाते हैं
तो उसकी परछाई ख़ुद-ब-ख़ुद बड़ी होगी.
और
आकार के ज़िंदगी में मायने हैं
आपका काम, आपका योगदान.

ऐसा तो नहीं कि
मैंने ज़िंदगी में कुछ किया ही नहीं
लेकिन फिर ये ख़्याल आता है कि
मैं जितना कर सकता हूँ
उसका तो एक चौथाई भी
अब तक नहीं किया
और इस ख़्याल की
ही हुई बेचैनी जाती नहीं.

जो दीवानापन है,
जो आपको आवारगी की तरफ़ ले जाता है,
यक़ीनन वो आपको तबाह भी कर सकता है;
लेकिन ये भी सच है,
जब आवारगी आपको कहीं पहुँचाती है
तो वो ऐसी जगह होती है कि
वे लोग जो सीधे रास्ते पर चलते रहे हैं
वे हैरत से और इज़्ज़त से आपको देखते हैं.

मेरी ख़्वाहिशें मुझे यहाँ तक लाई हैं.
मैं ज़िंदगी से कामयाबी, शोहरत और अमीरीयत
चाहता था और मुझे यह सब स्वीकारने में कोई
शर्म महसूस नहीं होती. मेरे पास एक ख़ास
तरह का हुनर था और ज़िंदगी में, मैं उसका
सही तरह से इस्तेमाल कर पाया और इन सबको
हासिल कर पाया.
लेकिन यह सब मैंने स्टॉक एक्सचेंज से नहीं
पाया और न ही स्टील और कपड़े के धन्धे से.
मैंने ये सब पाया फ़िल्मों की कहानी लिखकर,
गाने लिखकर, क्योंकि यही मेरा शौक़ था.

अगर आपको एक ही क्षेत्र में काम करना है
तो फिर अपनी मंज़िल
आगे-ही-आगे सरकाते रहिए...

जैसे ही आपको ये लगेगा कि आपको अपनी
मंज़िल मिल गई है वैसे ही
सब कुछ ख़त्म हो जायेगा...

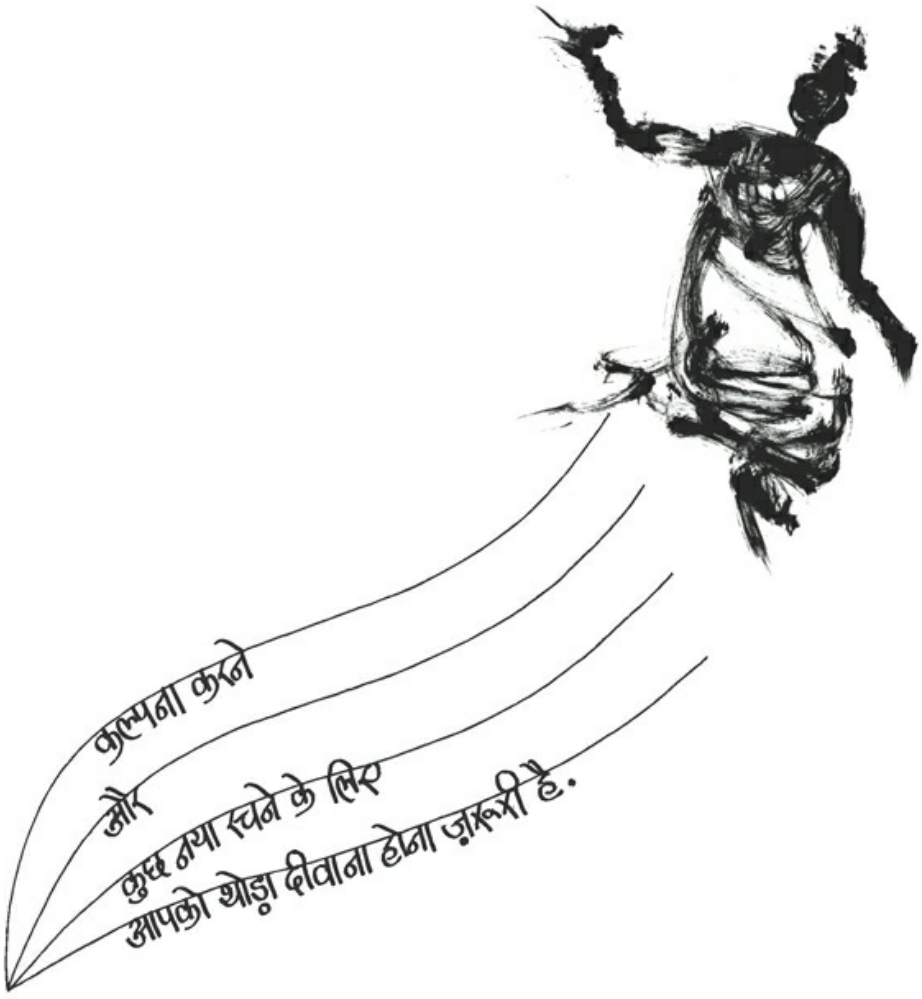
कल्पना करने
और
कुछ नया रचने के लिए
आपको थोड़ा दीवाना होना ज़रूरी है.

मुझको यक़ीं है सच कहती थीं
जो भी अम्मी कहती थीं
जब मेरे बचपन के दिन थे
चाँद में परियाँ रहती थीं

एक ये घर जिस घर में मेरा
साज़ो-सामाँ रहता है
एक वो घर जिस घर में मेरी
बूढ़ी नानी रहती थीं

एक ये दिन जब लाखों ग़म
और काल पड़ा है आँसू का
एक वो दिन जब ज़रा सी बात पे
नदियाँ बहती थीं

आप अपनी दबी हुई,
कुचली हुई,
ज़िल्लत भरी
ज़िंदगी का बोझ उठा सकते हैं...

मगर ज़ुल्म के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने को तैयार नहीं!

वो लोग कमज़ोर होते हैं जिन्हें ज़िंदगी जहाँ चाहे, वहाँ ले जाती है.

हम भले ही यह मानते रहें कि
हम कोई काम आगे की सोच के नहीं करते

लेकिन हम अनजाने में ही
अपने को भविष्य के लिए तैयार कर रहे होते हैं

कौन सा शेर सुनाऊँ मैं तुम्हें, सोचता हूँ

नया मुब्हम[1] है बहुत
और
पुराना मुश्किल

[1] उलझा हुआ

मैं
ख़ुद भी सोचता हूँ
ये क्या मेरा हाल है
जिसका
जवाब चाहिए
वो क्या सवाल है

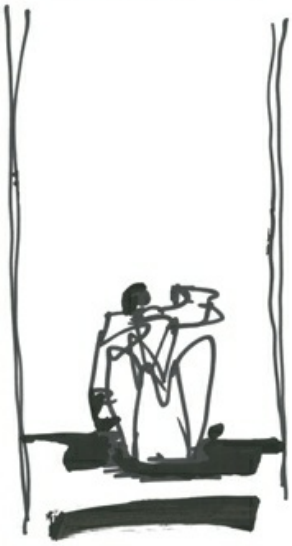

घर
से चला तो दिल के सिवा
पास कुछ न था
क्या
मुझसे खो गया है
मुझे क्या मलाल है

ग़म नहीं लिक्खूँ क्या मैं ग़म को
जश्न लिखूँ क्या मातम को
जो देखें हैं मैंने जनाज़े
क्या उनको बारात लिखूँ

किन लफ़्ज़ों में इतनी कड़वी
इतनी कसैली बात लिखूँ
शेर की मैं तेहज़ीब निबाहूँ
या अपने हालात लिखूँ

समाज का जो फ़िल्मों पर असर है उससे मुझे बहुत परेशानी है। मुझे लगता है समाज का फ़िल्मों पर बहुत बुरा असर हो रहा है और समाज को सुधारना ज़रूरी है।

ऐसा नहीं हो सकता कि समाज सेल्फ़िश हो, सेल्फ़ सेंटर्ड हो और फ़िल्में ग्रेट कॉज़ेज़ पर बन रही हों। यह संभव नहीं है।
जब लोगों में कमिटमेंट था,
जब लोगों में 'हम' का कॉन्सेप्ट था,
जब सोशलिस्ट पैटर्न का दौर था,
उस ज़माने में 'पैग़ाम' बनती थी, 'श्री 420' बनती थी, 'दो बीघा ज़मीन' बनती थी। अनटचेबिलिटी, ग़रीबी, बेरोज़गारी के इश्यू फ़िल्मों में आते थे। आज कब आपने देखा है, जो बेदख़ल कर दिये गए हैं, बाँध सड़क बनाने के लिए, वो कहाँ जा कर बसे?

जब आप किताब पढ़ रहे होते हैं
तो आप उसमें हिस्सा ले रहे होते हैं
आप ही डायरेक्टर होते हैं
आप ही कैमरामैन होते हैं
आप ही एडिटर होते हैं
आप ख़ुद ही कास्टिंग करते हैं
ख़ुद ही फ्रेम कम्पोज़िशन करते हैं
लोकेशन तय करते हैं
सेट भी आप ख़ुद डिज़ाइन करते हैं.

आपको सिनेमा में ये सहूलियतें कहाँ मिल सकती हैं?
आप फ़िल्मों में हिस्सा नहीं लेते,
आप केवल मूक दर्शक होते हैं.

बहुत दिनों बाद पाई फ़ुर्सत
तो मैंने ख़ुद को पलटकर देखा
मगर मैं पहचानता था जिसको
वो आदमी अब नहीं है.

हमको तो बस तलाश
नए रास्तों की है

हम ऐसे मुसाफ़िर हैं
जो मंज़िल से आगे हैं

रात की काली चादर ओढ़े
मुँह को लपेटे
सोई है कब से
रूठ के सबसे
सुबह की गोरी
आँख न खोले
मुँह से न बोले
जब से किसी ने
कर ली है सूरज की चोरी...

आओ
चल के सूरज ढूँढ़ें
और न मिले तो
किरन-किरन फिर जमा करें हम
और इक सूरज नया बनाएँ.

सच तो ये है क़ुसूर अपना है
चाँद को छूने की तमन्ना की
आसमाँ को ज़मीन पर माँगा
फूल चाहा कि पत्थरों पे खिले
काँटों में की तलाश ख़ुशबू की
आग से माँगते रहे ठंडक
ख़्वाब जो देखा, चाहा सच हो जाए

इसकी हमको सज़ा तो मिलनी थी

जब विश्वास,
तर्क, वजह, समझदारी, सबूत और गवाह
से वंचित हो जाता है तब आस्था कहलाता है.

लेकिन मुझे आश्चर्य होता है कि फिर
आस्था और स्टूपिडिटी में क्या फर्क है !

अक्सर
वो कहते हैं
वो बस मेरे हैं

अक्सर
क्यों कहते हैं
हैरत होती है

मैं कभी-कभी महसूस करता हूँ कि
चाहे वो अभिनेता हो या फ़िल्म हो या
स्क्रिप्ट हो या साहित्य हो या फिर इंसान
इन सभी में कौशल खो गया है
और वह कौशल है 'डिग्निटी'.

आज के दौर में जिसमें भी यह कौशल होता है या
पाया जाता है वो या तो 'मॉडर्न' नहीं होता
या फिर वो 'आउटडेटेड' होता है.

आज इस कौशल की कमी महसूस हो रही है जो पुराने वक़्त में क़ायम थी.

मेरे और शबाना के दरम्यान दोस्ती इतनी गहरी है कि शादी भी उसको कोई नुक़सान नहीं पहुँचा पाई.

आख़िरकार शादी है क्या ? ये तो महज़ क़ानूनी मंज़ूरी है, दो इंसानों को साथ में रहने के लिए... बस और कुछ नहीं.

लेकिन वे दो इंसान ख़ुशी से तभी रह पायेंगे जब वो एक दूसरे की ख़्वाहिशों का, सपनों का, इज़्ज़त का ख़्याल रखेंगे.

उनको समझना पड़ेगा कि वे दोनों ही इंसान हैं. ख़्वाब देखने और ख़्वाहिशें करने का बराबर हक़ है.

तेरी तस्वीर
है निगाहों में

दूर तक
रोशनी है राहों में

क्या मंज़िलें
क्या फ़ासले
इक हमसफ़र गर साथ है.

यहाँ महक वफ़ाओं की
मोहब्बतों का रंग है

ना आरज़ू पे क़ैद है
ना हौसलों पे ज़ंग है

मैं पूरी तरह से
इस विचार के साथ जी रहा था कि
मैं शराब का पूरा लुत्फ़ उठाते हुए बिकूँ ...

मैं इसलिए नहीं पी रहा था कि
मेरी माँ की बचपन में ही मौत हो गई
या अकेलापन या निराशा
या इसी तरह के किसी वजह में ...

मैं पीता था क्योंकि
मुझे पीना बेहद पसंद था.
लेकिन ज़िंदगी में एक ऐसा भी वक़्त आया
जब मुझे दो चीज़ों में से किसी एक को चुनना था,
वो दो चीज़ें थीं -
शराब और पेशा या ज़िंदगी
मैंने पेशा चुना, मैंने ज़िंदगी चुनी ...

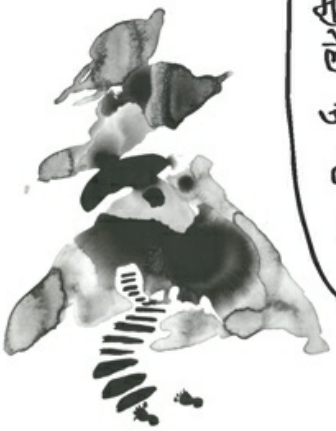

वो गई अपने सागर में जा के नदी
देखते
यार की ऐसी
जादूगरी

मैं कब से कितना हूँ तन्हा
तुझे पता भी नहीं
तिरा तो कोई ख़ुदा है
मिरा ख़ुदा भी नहीं

कभी ये लगता है
अब ख़त्म हो गया सब कुछ
कभी ये लगता है
अभी तो कुछ हुआ भी नहीं

वो मुझसे पूछते हैं चारागर[1] क्यों
कि तू ज़िंदा तो है अब तक, मगर क्यों

मैं ख़ुश रहता अगर समझा न होता
ये दुनिया है तो मैं हूँ दीदावर[2] क्यों

[1] इलाज करने वाला
[2] देखने वाला-समझदार

एक हमारी और एक उनकी मुल्क में है आवाज़ें दो
अब तुम पर है कौन-सी तुम आवाज सुनो तुम क्या मानो

हम कहते हैं जात धर्म से
इन्साँ की पहचान ग़लत
वो कहते हैं सारे इन्साँ
एक हैं ये एलान ग़लत

हम कहते हैं भूल के नफ़रत
प्यार की कोई बात करो
वो कहते हैं ख़ून ख़राबा
होता है तो होने दो

हम कहते हैं बेघर बेदर
लोगों को आबाद करो
वो कहते हैं भूले बिसरे
मंदिर मस्जिद याद करो

एक हमारी और एक उनकी मुल्क में है आवाज़ें दो
अब तुम पर है कौन-सी तुम आवाज़ सुनो तुम क्या मानो

हमारा सिनेमा
अभी भी पारंपरिक रंगमंच से बहुत ज़्यादा मुतास्सिर[1] है
इसलिए सिनेमा बोले गए लफ़्ज़ों पर
काफ़ी हद तक मुन्हसिर[2] है.

हमारे लिए फ़िल्म एक ऑडियो विज़्युअल माध्यम है
जिसमें ऑडियो की अहमियत बहुत ज़्यादा है.

[1] प्रभावित
[2] निर्भर

टैलेंट नदी की तरह है। जब गंगा
चलती है गंगोत्री से, हिमालय से, तो कोई उसके लिए
हाई-वे थोड़े ही बनता है, न ब्रिज बनते हैं। वो उसकी अपनी
एनर्जी है जो रास्ता बनाती है। वहाँ चट्टानें होती हैं, पहाड़ होते हैं,
झाड़ होते हैं, लेकिन नदी के अंदर इतनी शक्ति होती है कि वो रास्ता
बनाते-बनाते समंदर तक पहुँच जाती है। उसी तरह टैलेंट है। टैलेंट को अडवांटेज
परिस्थितियाँ कभी नहीं मिलती हैं। नौजवान जिनमें टैलेंट
होगा, वो अपना रास्ता बना ही लेंगे...

यूँ लगता है
सारी बस्ती
जैसे इक दुखता फोड़ा है
यूँ लगता है
सारी बस्ती
जैसे इक जलता कढ़ाव
यूँ लगता है
जैसे खुदा नुक्कड़ पर बैठा
टूटे-फूटे इंसाँ
औने-पौने दामों
बेच रहा है

मुझे इण्डियन डी एन ए पर पूरा विश्वास है। यह बहुत देर तक ग़लत नहीं रहता। हमारे माँ-बाप ने हमें जो संस्कार दिए थे, आज की होड़ में हमें टाइम ही नहीं था, बच्चों को यह सब बताने का। किन्तु बच्चों में ये एहसास है कि हमारे माँ-बाप ने ट्रेन पकड़ने के चक्कर में कुछ सामान प्लेटफ़ार्म पर ही छोड़ दिया है। वो सामान है साहित्य, भाषा। कहीं ये एहसास है। तो फिर हिन्दुस्तानी सिनेमा का भविष्य उज्ज्वल है। इसलिए कि यही तय करते हैं कि फ़िल्में कैसी बनेंगी?

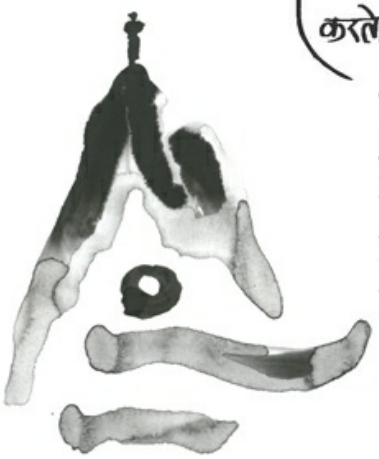

नया हिन्दुस्तान बदल रहा है और मैं समझता हूँ कि नया हिन्दुस्तान मुझसे और आपसे बेहतर इंसानों का है। इसलिए मैं विश्वास रखता हूँ कि आने वाली पीढ़ी मुझसे और आपसे बेहतर फ़िल्में बनाएगी और बेहतर फ़िल्में देखेगी।

मुझे थोड़ा दुख है कि इस वक़्त हमारी हिन्दुस्तानी मौसिक़ी ने

जो रुख़ इख़्तियार किया है वो अच्छा नहीं है।

लेकिन मैं एक बात पर यक़ीन रखता हूँ कि ये रहेगा नहीं ऐसा।

ये तब्दील होगा। ये चल ही नहीं सकता।

ये हिन्दुस्तानी मिज़ाज के मुताबिक़ नहीं।

आप उसे ज़बरदस्ती दे रहे हैं और उसके गले उतार रहे हैं

मगर वो है नहीं उसके लिए।

हम ऐसा सोचते हैं
कि पहले बहुत अच्छा था, अब
ख़राब हो गया। पहले इंसान बहुत
नेक था, दुनिया बहुत अच्छी थी, दुनिया
में इंसाफ़ ही इंसाफ़ था, प्यार था, सच्चाई
थी, वफ़ा थी, अब नहीं रही है।

दुनिया आइडियल कभी नहीं थी और
हमेशा दुनिया में कुछ चीज़ें
ठीक नहीं रहीं।

आज ये दुनिया जिसमें
बहुत-सी ख़ामियाँ हैं, बहुत-सी
बुराइयाँ हैं, ये दुनिया आज तक की
बेहतरीन दुनिया है।
इससे बेहतर दुनिया कभी नहीं रही थी।

आज जो कॉन्सेप्ट है बराबरी का,
समानता का
ये पहले कब था?

अजब-सा चैन था हमको कि जब थे हम बेचैन
क़रार आया तो जैसे क़रार जाता रहा

कभी तो मेरी भी सुनवाई होगी महफ़िल में
मैं ये उमीद लिए बार-बार जाता रहा

गुफ़्तगू की तीन सतहें हैं-
लोग, घटनाएँ और विचार.

इसमें सबसे निचले तबक़े की बातचीत
लोगों के बारे में होती है.

जब हम इससे एक दर्जा ऊपर आते हैं
तो घटनाओं का स्तर आता है
जिनका दायरा लोगों के बारे में बात करने से थोड़ा बड़ा है.

लेकिन सबसे ऊंची बातचीत वो जिसमें हम
विचारों के बारे में बात करते हैं
क्योंकि विचार सार्वभौमिक और देशकाल से परे होते हैं.

बहुत आसान है
पहचान इसकी
अगर दुखता नहीं
तो दिल नहीं है

कभी तो रात को
तुम रात कह दो
ये काम इतना भी
अब मुश्किल नहीं है

मैं तहे दिल से ये मानता हूँ कि आज से दो सौ साल बाद इस वक़्त को इंसानी तारीख़ का सबसे अजीबोग़रीब दौर माना जाएगा. जिस ज़माने में लोग और मुल्ला ये मानते थे कि सूरज पृथ्वी के इर्द-गिर्द घूमता है, उस ज़माने में वो लाइल्म ज़रूर थे लेकिन दीवाने नहीं थे. वो सचमुच ऐसा मानते थे. लेकिन एक ऐसा आदमी जो 'नासा' में काम करता है या चाँद पर जा चुका है वो अगर फिर भी इतवार के दिन गिरजाघर जाता है तो वो शर्तिया स्किज़ोफ्रेनिक[1] है. बीसवीं सदी में जीने वाले एक पढ़े-लिखे शख़्स के लिए अक़ीदा[2] और साइंटिफ़िक हक़ीक़त एक दूसरे के ख़िलाफ़ हैं.

[1] खंडित मानसिकता का शिकार
[2] आस्था

ज़बानों के मज़हब नहीं होते, जबानों के इलाक़े होते हैं.
ज़बान या भाषा सिर्फ़ कम्युनिकेशन नहीं है.
ज़बान इससे बहुत ज़्यादा और बड़ी चीज़ है;
जिसे हम संस्कृति कहते हैं, तहज़ीब कहते हैं,
वो ज़बान में चलती है. जो परंपराएँ हैं वो ज़बान में चलती हैं.
आपकी अपनी जो पहचान है,
पिछली पीढियो सें जो रिश्ता है वो ज़बान से है.
वो जब कट जाता है तो आप अपनी ज़मीन से कटते हैं,
अपने रिश्तों से कटते हैं. आपकी जो पूरी शख़्सियत है
वह ज़बान से बहुत हद तक डिफ़ाइन होती है.
नैतिक मूल्य ज़बान से मिलते हैं.

भाषा एक पूरा इतिहास और संस्कृति ले कर आती है.

ग़लत बातों को
ख़ामोशी से सुनना, हामी भर लेना
बहुत हैं फ़ायदे इसमें मगर
अच्छा नहीं लगता

मुझे दुश्मन से भी
ख़ुद्दारी की उम्मीद रहती है
किसी का भी हो सर
क़दमों पे सर
अच्छा नहीं लगता

मैं इस बात से बिलकुल सहमत नहीं कि
सांप्रदायिकता सिर्फ धार्मिकता पर
निर्भर रहती है
ऐसे लोग भी हैं
जो बावजूद नास्तिकता के
सांप्रदायिक हैं
और आंशिक धार्मिक होने के बाद भी
सांप्रदायिक नहीं.

किसी का धार्मिक होने के बावजूद भी
सेक्युलर बने रहना मुश्किल है,
लेकिन बड़ी बात है.

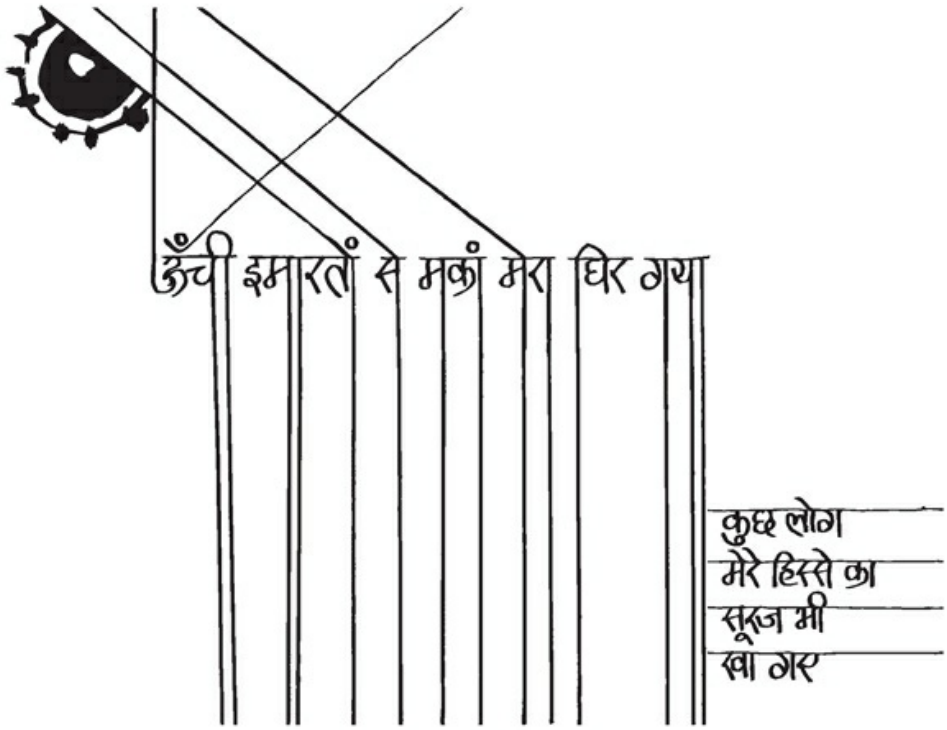
ऊँची इमारतों से मकां मेरा घिर गया
कुछ लोग
मेरे हिस्से का
सूरज भी
खा गए

अपनी वजहे-बरबादी
सुनिये तो मज़े की है
ज़िंदगी से यूँ खेले
जैसे दूसरे की है

कोई बात असभ्य है
अश्लील है आक्रामक है
तो आप
कैसे अपने विरोध का
इज़हार करेंगे
कैसे मुक़ाबला करेंगे ?

क्या आप
बस जलाकर विरोध करेंगे या
दुकानों को जलाकर, लूटकर या
निर्दोष जनता को मारकर या
पब्लिक प्रॉपर्टी को जलाकर-
कैसे करेंगे ?

हम विरोध करेंगे
सिविल एक्शन के जरिये
न्यायालय के ज़रिये
हम विरोध करेंगे
किताबें लिखकर या
लेख लिखकर
भाषण व वक्तव्यों के ज़रिये
या हम मीडिया में बात लेकर जाएंगे ...

इसके पहले अंग्रेज़ी इतनी अहम कभी नहीं थी।
आज अंग्रेज़ी आना इंतिहाई ज़रूरी है,
बेहतर तालीम के लिए।
लेकिन दुख ये है कि ये ज़रूरी काम
एक दूसरे ज़रूरी काम की क़ीमत पर हो रहा है।
ऐसा नहीं होना चाहिए।
दूसरा ज़रूरी काम ये है कि आपको आपकी
मादरी ज़बान आना चाहिए जो आपकी अपनी
शिनाख़्त, आपकी अपनी शख़्सियत,
आपका अपना माज़ी, आपकी अपनी तहज़ीब है।

आँखों में कुछ आँसू हैं कुछ सपने हैं
आँसू और सपने दोनों ही अपने हैं
दिल दुखा है लेकिन टूटा तो नहीं है
उम्मीद का दामन छूटा तो नहीं है
हम लोगों को समझ सको तो समझो दिलबर जानी
थोड़ी मजबूरी है लेकिन थोड़ी है मनमानी
थोड़ी तू-तू मैं-मैं है और थोड़ी खींचा-तानी
हममें काफ़ी बातें हैं जो लगती है दीवानी

फिर भी दिल है हिन्दुस्तानी
फिर भी दिल है हिन्दुस्तानी

गिन-गिन के सिक्के
हाथ मेरा
खुरदुरा हुआ

जाती रही
वो लम्स[1] की नर्मी
बुरा हुआ.

[1]स्पर्श

सरहदें
इंसानों के लिए हैं
सोचो
तुमने और मैंने
क्या पाया
इन्सां हो के

किसी चीज़ को दिलचस्प बनाने के लिए
पहले ख़ुद आपकी उसमें दिलचस्पी होना चाहिए.

अगर आप ख़ुद अपने काम में पूरी तरह
शामिल नहीं होंगे तो आप दूसरों को
उसमें क्या शामिल करेंगे ?

लेकिन अगर आप ख़ुद अपने काम में
पूरी तरह शामिल हैं
तो दूसरे भी ज़रूर उसमें शामिल होंगे.

जो बात कहने जा रहा हूँ,
वो आपको अजीब लग सकती है,
लेकिन हर आवाज़ का कुछ-न-कुछ विज़्युअल असर होता है।
अगर आप ज को लें तो ज में एक चमक है जो बहुत सफ़ेद है
जबकि च में भी चमक है लेकिन न जाने कैसे पीली या सुनहरी है।
ट ऐसा लगता है जैसे आपने ठोस ज़मीन पर कोई गेंद फेंकी हो।
लेकिन अगर आप गीली ज़मीन पर गेंद फेंकें तो आपको थ आवाज़ मिलेगी।
अगर आप लकड़ी की खोखली दीवार पर गेंद मारें तो ध आवाज़ निकलेगी।
आवाज़ें आपके ज़हन में अलग-अलग तस्वीरें बनाती हैं, मसलन-
ध चिपचिपी आवाज़ है,
घ सघन आवाज़ है,
ग साफ़ आवाज़ है।

पिछले 30-40 सालों में
ऐसा नहीं कि हमने कुछ
किया ही नहीं है, लेकिन हुआ ये कि
इस होड़ में कुछ सामान जो है वो
ट्रेन पकड़ने के चक्कर में
प्लेटफ़ार्म पर रह गया.
उसमें साहित्य भी है.
उसकी अहमियत को हमने
महसूस नहीं किया, समझा नहीं.

आज आप कितने घर देखते हैं जहाँ पर आपको किसी भी भाषा की साहित्यिक किताबें मिलती हैं? कितने बच्चों ने अपने माँ-बाप को कविताएँ पढ़ते या बैठकर सुनाते देखा है? कितने बच्चों ने देखा कि कोई उपन्यास या कहानी पर चर्चा हो रही है, लोग किसी लेखक के लेखन के बारे में बात कर रहे हैं?

हमको ये समझना होगा कि लोग खुश तभी रह सकते हैं, अमन तभी हो सकता है, घर में या शहर में या रियासत में या दुनिया में, जब इंसाफ़ हो। हम दूसरों को इज़्ज़त दें। दूसरा वो जो हमसे मुख़्तलिफ़ हो, चाहे रंग में, चाहे जाति में, या सोच में, वो हमसे हर बात में इख़्तेलाफ़ी[1] राय रखता हो, हम उसको इज़्ज़त देने को तैयार हैं या नहीं। उसके बगैर दुनिया में हमाहमी, दुनिया में सुकून, दुनिया में अमन नहीं आ सकता। एक शेर है सरशार सैलानी का -

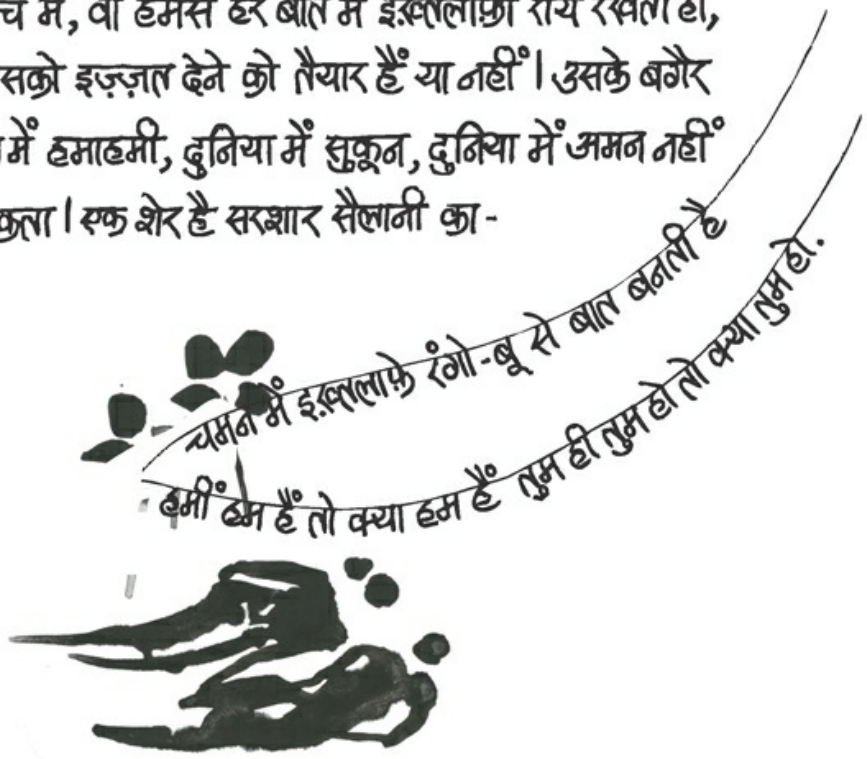

[1] विभिन्न

कभी-कभी
हैरत होती है और
हैरत से ज्यादा ग़म
होता है कि जिस मुल्क में
संगीत के जितने चिराग़
रोशन हुए उनके नीचे
अँधेरा-ही-अँधेरा है। इस अँधेरे
में हिन्दुस्तान के लेखकों और कलाकारों
की ज़िंदगी बरसों से भटक रही है।
लेकिन वक़्त बदल रहा है
हालात बदल रहे हैं
दिल में एक उम्मीद है कि
हमारी सुनी जायेगी
हमें हमारा अधिकार मिलेगा
क़ानून भी बदलेगा
और हिन्दुस्तान के कलाकारों की क़िस्मत भी बदलेगी।

कॉपी राइट एक्ट

वक़्त की अपनी रफ़्तार होती है,
ज़िंदगी का अपना एक बहाव होता है, दबाव होता है.
चीज़ें वक़्त के साथ बदलती हैं,
और कोई ताक़त उस आने वाले बदलाव को रोक नहीं सकती.

अगर हम इंसानी इतिहास को देखें तो पाएँगे
के बदलाव के हर पायदान पर रूढ़िवादी
(वो लोग जो मानते हैं कि कुछ भी पहली बार नहीं होता)
मानते हैं कि जो भी नई शुरूआत हो रही है वो ग़लत है.

लेकिन ज़िंदगी तो चलती रहती है
और ये तथाकथित रूढ़िवादी अवरोध
हर वक़्त टूटते और बिखरते रहते हैं.

घर मे बैठे क्या लिखते हो/बाहर निकलो/देखो क्या हाल है दुनिया का/
ये क्या आलम है/सूनी आँखें हैं/सारी ख़ुशियों से ख़ाली जैसे/
आओ इन आँखों में ख़ुशियों की चमक हम लिख दें/ये जो माथे हैं/
उदासी की लकीरों के तले/आओ इन माथों पर क़िस्मत की दमक
हम लिख दें/चेहरे से गहरी ये मायूसी मिटा के/आओ/इन पे
उम्मीद की इक उजली किरन हम लिख दें/दूर तक जो हमें वीराने
नज़र आते हैं/आओ वीरानों पर अब एक चमन हम लिख दें/
लफ़्ज़-दर-लफ़्ज़ समंदर सा बहे/मौज-ब-मौज/बहरे-नग़मात[1] में/हर
कोहे-सितम[2] हल[3] हो जाए/दुनिया दुनिया न रहे एक ग़ज़ल हो जाए.

[1] गीतों का सागर
[2] ज़ुल्मों का पहाड़
[3] ख़त्म

ख़्वाब के गाँव में पले हैं हम
पानी छलनी में ले चले हैं हम

दाग़ फूँकें कि अपने बचपन में
दूध से किस क़दर जले हैं हम

ख़ुद हैं अपने सफ़र की दुश्वारी
अपने पैरों के आबले[1] हैं हम

तू तो मत कह हमें बुरा दुनिया
तूने ढाला है और ढले हैं हम

क्यूँ हैं कब तक हैं किसकी ख़ातिर हैं
बड़े संजीदा मसअले हैं हम

[1] छाले

हम नारी को देवी इसलिए कहते हैं कि
हम उसे इंसान नहीं कहना चाहते
अगर हम उसे इंसान कहेंगे तो
उसे हमें ह्यूमन राइट्स देने पड़ेंगे.

न कोई दौर था, न धर्म है जिसमें औरत को
बराबरी की इज़्ज़त दी गई हो
हमारे यहाँ जितने पर्सनल लॉ हैं हर एक
औरत को कमज़ोर दर्जा देता है.

किन्तु आज ज़रूरतें बदल रही हैं,
दुनिया बदल रही है.
सवाल ये नहीं कि बदलाव आना चाहिए या
नहीं आना चाहिए. ये बदलाव तो आएगा ही.
इसमें कोई शक नहीं.
सवाल ये है कि आप इस बदलाव को
अच्छी तरह से और जल्दी एक्सेप्ट करेंगे या नहीं ?

ये जो फ़िल्में हैं, टीवी है या पत्रकारिता है
या फ़िल्म के डॉयलाग हैं, गीत हैं या राजनीति है
ये सब दरअस्ल एक तरह का पता आपको देते हैं कि
समाज के साथ क्या हो रहा है.
इसमें यदि आपको कोई गड़बड़ लग रही है तो
दरअस्ल गड़बड़ समाज में है
जो हमें यहाँ दिखाई दे रही है.
किसी ने बहुत अच्छी बात कही है कि
मुझे समाज के 'एड' दिखा दो
मैं तुम्हें उस समाज के बारे में सब-कुछ बता दूँगा.
ये 'एड' समाज को नहीं बना रहे हैं,
ये समाज 'एड' बना रहा है.
समाज को जैसा 'एड' चाहिए वैसा बनेगा.
तो समाज को ऐसा 'एड' क्यों चाहिए ?
ये आपको सोचना चाहिए
इलाज यहाँ होना है.

ज़िंदगी है तो ख़्वाब हैं
ख़्वाब हैं तो मंज़िलें हैं
मंज़िलें हैं तो फ़ासले हैं
फ़ासले हैं तो रास्ते हैं
रास्ते हैं तो मुश्किलें हैं
मुश्किलें हैं तो हौसला है
हौसला है तो विश्वास है
क्योंकि 'फ़ाइटर' हमेशा जीतता है...

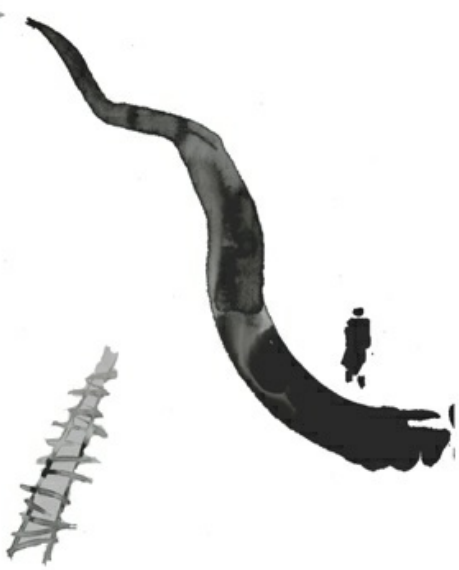

हम ये सोचते हैं कि इंसान को ठीक करेगा धर्म,
हम सोचते हैं कि इंसान को ठीक करेगा मज़हब।
अभी तक तो किया नहीं।
दुनिया का नक़्शा लीजिए और उस पर निशान लगाइए
कि दुनिया में करप्शन, ज़ुल्म, अन्याय, ज़बरदस्ती, लूट,
कहाँ है सबसे ज़्यादा?
फिर दूसरा नक़्शा लीजिये और निशान लगाइए
कि दुनिया में धर्म कहाँ-कहाँ ज़्यादा है?
तो एक ही जगह पर निशान लगेंगे, दोनों के।

धर्म का क्या ताल्लुक़ है मॉरेलिटी से?
इंसान को ठीक करेगा उसका अपना इल्म,
उसका अपना कॉंशियंस, उसका ज़मीर,
उसकी आंतरिक सोच।

कल जहाँ दीवार थी, है आज इक दर देखिए
क्या समाई थी भला दीवाने के सर, देखिए

अक़्ल कहती है कि दुनिया मिलती है बाज़ार में
दिल मगर कहता है कुछ और बेहतर देखिए

ये दुनिया ज़ालिमों और मज़लूमों में नहीं बटी हुई है।
जो कहीं मज़लूम हैं वो कहीं ज़ालिम भी हैं।
एक तरफ़ आप ज़ुल्म सह रहे हैं और
दूसरी तरफ आप ज़ुल्म कर रहे हैं।
तो बेहतर ये है कि ज़ुल्म करना तो बंद करें पहले आप
फिर शिकायत कीजिये
कि भाई ज़ुल्म नहीं होना चाहिए।

अगर आप चाहते हैं कि दुनिया में ज़ुल्म कम हों
तो पहला काम तो ये कीजिये कि
जिन लोगों पर आप ज़ुल्म कर रहे हैं
वो ज़ुल्म बंद कीजिए।

बहुत अहम बात यह है कि
इस मुल्क में जस्टिस सिस्टम बहुत सही और तेज़ हो जाए.
हमारा आर टी आई बहुत ख़ूबसूरत क़ानून बना है. वो और स्ट्रॉंग हो.
मुल्क के बजट का कम-से-कम 10% शिक्षा पर होना चाहिए.
जिस दिन बच्चा पहली बार स्कूल जाए, उस दिन से कॉलेज तक
उसकी शिक्षा का स्टैण्डर्ड किसी और बच्चे की शिक्षा के
स्टैण्डर्ड से कम न हो.

जस्टिस सही हो और शिक्षा सही हो तो मुझे लगता है
बाक़ी जितनी मुश्किलें हैं वो ख़ुद-ब-ख़ुद हल होंगी.

शुक्र है ख़ैरियत से हूँ साहब
आपसे और क्या कहूँ साहब

अब समझने लगा हूँ सूदो-ज़ियाँ[1]
अब कहाँ मुझमें वो जुनूँ साहब

ज़िल्लते-ज़ीस्त[2] या शिकस्ते ज़मीर[3]
ये सहूँ मैं कि वो सहूँ साहब

शाम भी ढल रही है घर है दूर
कितनी देर और मैं रुकूँ साहब

कुछ रिवायात की गवाही पर
कितना जुर्माना मैं भरूँ साहब

[1] लाभ-हानि
[2] अपमानमय जीवन
[3] अंतरआत्मा की पराजय

अब तक ज़िन्दा रहने की
तरकीब न आई

तुम आखिर किस दुनिया में
रहते हो भाई.

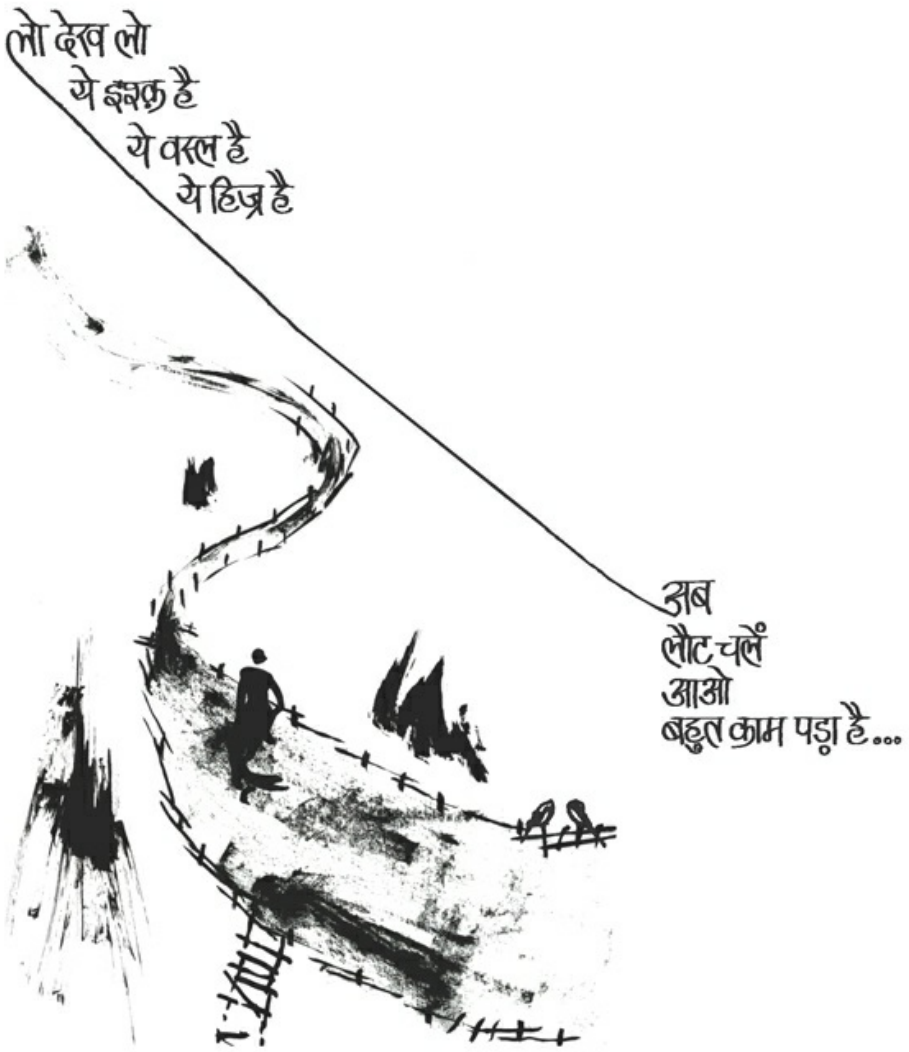
लो देख लो
ये इश्क़ है
ये वस्ल है
ये हिज्र है
अब
लौट चलें
आओ
बहुत काम पड़ा है...

दिलों में तुम अपनी बेताबियाँ ले के चल रहे हो
तो ज़िंदा हो तुम
नज़र में ख़्वाबों की बिजलियाँ ले के चल रहे हो
तो ज़िंदा हो तुम
हवा के झोकों के जैसे आज़ाद रहना सीखो
तुम एक दरिया के जैसे लहरों में बहना सीखो
हर एक लम्हे से तुम मिलो खोले अपनी बाहें
हर एक पल एक नया समा देखें ये निगाहें
जो अपनी आँख में हैरानियाँ ले के चल रहे हो
तो ज़िंदा हो तुम
दिलों में तुम अपनी बेताबियाँ ले के चल रहे हो
तो ज़िंदा हो तुम

इंदौर में सामाजिक व सांस्कृतिक पहलकदमियों को सहयोग के लिए तत्पर भरोसा न्यास अपने अंतरराष्ट्रीय स्तर के आयोजन 'जश्न जारी' के लिए विशेष रुप से जाना जाता है।

सामाजिक सरोकारों से जुड़कर अपनी भूमिका निभाने की कोशिशों में भरोसा न्यास खानाबदोश मज़दूरों के बच्चों व अन्य ज़रूरतमंद बच्चों की शिक्षा के लिए भी अपने योगदान के साथ मौजूद रहता है।

रूपांकन इन्दौर में वर्ष 2001 से सामाजिक वैचारिक मुद्दों पर काम कर रहा है। रूपांकन द्वारा संचालित वाचनालय के 24 घंटे खुले रहने जैसी ख़ूबियों की वजह से भी इसकी एक अलग पहचान है। इस संस्था की देश में एक अलग पहचान कैलिग्राफ़िकल पोस्टर बनाने वाले केन्द्र के रूप में भी है।

समानता और वैज्ञानिक सोच के साथ बच्चे बेहतर मनुष्य बनें और खूबसूरत दुनिया गढ़ने में अपनी सार्थक भूमिका निभाएँ, इन बातों को ध्यान में रखते हुए रूपांकन युवाओं के साथ साहित्य, नाटक, पोस्टर प्रदर्शनी, सार्थक फ़िल्मों के प्रदर्शन, चर्चा, कार्यशालाओं सहित मानवीय मुद्दों को लेकर दर्जनों गतिविधियों में सक्रिय है।

औपचारिक शिक्षा से वंचित और सुविधा रहित बच्चों के लिए रूपांकन शहर में अनौपचारिक शिक्षण केन्द्र संचालित करता है।

गैर मोटर चलित परिवहन के साधन (पैदलयात्री, साइकिल यात्री) और लोकपरिवहन की व्यवस्था की बेहतरी के प्रयासों के साथ रूपांकन सामय-समय पर प्रकाशन कार्य भी करता है।

सम्पर्क:
रूपांकन

31 शंकरगंज, किला रोड, इंदौर — 452006 (म.प्र.)
फोन: 94245-77474, 98260-12915
ई-मेल: roopankan@gmail.com